शब्द दंश

—जगदीश गुप्त

पीताम्बरा प्रकाशन

नई दिल्ली।

❖

हिमालय के

सहयात्री

साही को

ढाकुरी की वर्षाकुल संध्या

सुंदरढोंग के जलद-अभिषिक्त शिखर

और

पिंडर-वैली के प्रथम हिम-स्पर्श

की अभिन्न स्मृति

के साथ

❖

आदि शब्द

'शब्द-दंश' की कविताएँ अपने में कोई उपलब्धि हों चाहे न हों पर यह अवश्य है कि इनके माध्यम से मैंने अपने आपको को उपलब्ध किया है | मेरी धारणा है कि रचयिता को अन्य व्यक्ति ही उसकी कृति से नहीं जानते वरन् वह स्वयं भी उसके ही द्वारा अपने अंतर्निहित व्यक्तित्व के सक्रिय अंश से परिचित होता है | कविता हो या चित्र, मुझे लगता रहा है कि प्रत्येक स्वरचित वास्तविक कृति मुझे सत्य के निकट ले आती है | यदि कवि आत्म-दर्शन के साथ ही प्रलोभनों से यथाशक्ति अविचलित रहकर अपनी अनुभूति के प्रति ईमानदार और वाणी की पवित्रता के प्रति निष्ठावान रह सके तो मैं स्वानुभव के आधार पर कहूँगा कि कविता सत्य के साक्षात्कार का उत्कृष्टतम साधन है | कहा जाता है कि कवि सौंदर्य के माध्यम से सत्य को प्रत्यक्ष करता है पर सौंदर्य की परिभाषा बड़े-बड़े मनीषियों द्वारा भी सर्वथा निश्चयात्मक रूप से नहीं दी जा सकी तथा सौंदर्य-बोध के प्रतिमान भी बदलते रहे हैं | अतएव मैं निषेधात्मक रीति से कहना चाहूँगा कि जीवन के व्यापक भाव-सत्य की उपलब्धि व्यवस्थित व्यक्तित्व के द्वारा ही संभव है और सौंदर्य की भी अपनी एक अंतरंग व्यवस्था होती है | मेरे विचार से सत्य और सौंदर्य के बीच 'व्यवस्था' ही एक ऐसा सेतु है, जिससे दोनों तटों के बीच एक साथ बह कर भी व्यक्तित्व

विभाजित नहीं होने पाता | व्यवस्था के स्वरूप और अभिप्राय के विषय में मतभेद हो सकता है पर अव्यवस्थित मनोदशा में न सत्यही उपलब्ध होता है और न सौंदर्य ही | आज कविता का आग्रह सौंदर्य की अपेक्षा सत्य पर अधिक दिखायी दे रहा है | अपने विकास-क्रम में पूर्व अर्जित संस्कारों की सीमा को स्वीकार करते हुए भी इसी कारण मैं नयी कविता से आत्मीयता का अनुभव करता हूँ और अब जितना ही विचार करता हूँ उतना ही इस आत्मीयता को दृढ़तर होता हुआ पाता हूँ |

यह मेरी कविताओं का दूसरा संग्रह है | प्रथम संग्रह 'नाव के पाँव' लगभग चार वर्ष पूर्व प्रकशित हुआ था | तब से अब तक की प्रायः समस्त कविताएँ इसमें संकलित हैं | जब संकलन के लिए कविताएँ एकत्र कर रहा था तो लगा जैसे उनकी प्रकृति स्वयं ही उन्हें विविध वर्गों में विभाजित किये दे रही है | न तो इस क्रम से कविताएँ किसी पूर्व निश्चय के अनुसार लिखी गयी हैं और न उनका वर्गीकरण ही पूर्वनिर्धारित है | मैं आशा करता हूँ कि यह वर्ग-विभाजन किसी को कविताओं की मूल संवेदना तक पहुँचने में व्याघात उत्पन्न नहीं करेगा |

इस विनम्र निवेदन के साथ यह संग्रह आपके हाथों में है |

12-2-59 जगदीश गुप्त

❖

कविता-क्रम

अहं का विस्तार

1. अहं का विस्तार
2. विकार-स्वीकार
3. अशक्य
4. यज्ञ-भाग
5. ज्योति का छल
6. हँसी के पाश
7. आत्महत्या—एक अनुभूति
8. बच्चों के बीच
9. छाया—भीरू
10. तब जाकर चैन मिला

11. अयाचित दान
12. अन्तदर्शन की छाया में
13. नया अर्थ
14. मुक्त समय

टेरो मत

15. टेरो मत
16. आत्मनिषेध: एक दृष्टि
17. मथित का अहम्
18. सूरज-चाँद की घाटी
19. बेंदी
20. स्पर्श-गीत
21. शीशे के सामने शीशा
22. मिलन-क्षण के अन्तराल में
23. थाह

बादल और कच्चे घड़े

24. बादल और कच्चे घड़े
25. डरो नहीं
26. दीप का वक्तव्य
27. तूफ़ान दोस्त है
28. परम्परा

जाड़े की रात

29. जाड़े की रात
30. नयी रेखाएँ

31. टीसती इकाई
32. अतर्क्य
33. सीधी बात का काँटा
34. अहरह आलोक छने

कछार के खेत

35. कछार के खेत
36. अंकुरित यौवना—धरती कछार की
37. लोहार की दूकान
38. उल्का
39. नैनीताल की दोपहर
40. ... निकला चाँद
41. एक बरसाती पूनो
42. हरसिंगार की गंध, चाँदनी रात में
43. पिछले पहर
44. नदी-रेख
45. ध्रुव-तारा
46. साँझ के बादल
47. साँप, ओस और दूर्वादल
48. सलाखें
49. रेत की लहरें

स्तोत्र त्रय

50. ओ समय के अर्धनारीश्वर

51. क्षुधा-काम स्तोत्र

52. वाणी-वंदना

शब्द-दंश

53. शब्द-दंश

54. अहं का विस्फोट

55. एक क्षण को मान लो

56. वैज्ञानिक से

57. युद्ध और बुद्ध

58. एक समीकरण

❖

1—अहं का विस्तार

अहं का विस्तार—
है दायित्व भी, दर्द भी,
भोग या सुख ही नहीं है |

पास आने पर उपजता मोह,
मोह जीवन को अज़ब-सा अर्थ देता है |
उलझनें नूतन, नये संदर्भ रचकर,
आप ही अपनी नीयति को बाँध लेता है |

चित्त विभु है, दूर रहना भी कहाँ संभव |

हर नये सम्बंध का परिणाम

किसी दुखती हुई रग का स्पर्श—

और हर दुख पर नये दायित्व का अनुभव |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 11

•

2—विकार-स्वीकार

क्रोध उपजा—

आँख अंगारा बनी

मुँह तमतमया,

एक आँधी सी गयी झकझोर कर तन तोड़ |

काम जागा—

मथ उठा मन, निचुड़ कर रस-बूँद नस-नस से

पिघलती आग सी उमड़ी, उमड़ती रही |

फिर कगारों को ढहाती निम्नगा-सी बही |

मांस का आवेग कुछ क्षण गया निज को मांस से ही जोड़ |

मोह, मत्सर, लोभ, मद सब—

ज़िंदगी को बाँट लेने की परस्पर होड़ |

यह विकार नहीं,

मनुज के साथ जन्में, बढ़े

उसके ही सहोदर बंधु |

हम सबों की आत्मा—

सर्वथा इनसे अलग दीखी नहीं अब तक |

दया, करुणा, स्नेह की खेती इन्हीं की खाद से बढ़ती

आदमी से आदमी की उमगती पहचान के आधार |

शिव के वेश जैसे—

यह अशिव भी ग्राह्य—यह स्वीकार |

•

3—अशक्य

करने को—

चाहूँ तो सब का निषेध कर सकता हूँ

कवि का

कविताओं का

चित्रों का

मित्रों का

अन्दर बाहर फैली स्वार्थ-भरी गंधो का

सीधे-तिरछे, उलझे-सुलझे सम्बंधों का

अनपेक्षित दूरी का

अपने ही पास न रहने की मजबूरी का

—लेकिन

यह भीतर जो द्रष्टा है

ममतामय

(स्यात् वही स्रष्टा है)

झींख-झींख हारा

सर मारा

पर किसी तरह

उसका निषेध नहीं होता है |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 13

•

4— यज्ञ-भाग

चाँद

जिसे स्नेह का प्रतीक समझ

रच-रच उगाया था मैंने निज चित्र में

बाँहों से बँधे युगल हृदयों को घेर कर,

उसकी ही छाती पर

पटक-पटक

आखिर बिसतुइया ने

मार ही तो डाला

उस वर्षा के फूल तुल्य कोमल पतंगे को

विजड़ित मैं देखा किया— देखा किया;

निविड़ गहन मौन के अँधेरे में

डूब गया सारा वह ज्योति-पुंज

जिसका आकर्षण अमोघ था गतात्मा को

पूर्ण हुआ मेरा चित्र-यज्ञ प्राण-आहुति से

मुझको भी मिला एक यज्ञ-भाग—एक सत्य

अपने परिवेश की परिज्ञा से वंचित को

छलती है ज्योति भी |

•

5— ज्योति का छल

इस मरु में
फेनिल मुख दौड़ो मत
छाया यह किरनों की
नीर नहीं— केवल छलावा है |
मानव की प्रज्ञा को अनपेक्षित
ऐसी गति, ऐसा भ्रम |

मेरी भी सुनो भला
मैं भी हूँ दूध का जला
मुझको ज्योति ने छला |
मट्ठे को फूँक-फूँक पीता हूँ |
किरनों की नहीं,
तप्त अनुभव की छाया में जीता हूँ |

बिना खपे, बिना तपे
अनायास मरुथल में
इतनी जलाराशि कहाँ मिलती है |
छन कर अनुभूति की शिराओं से
आत्मा तक केवल कुछ बूँदें आ पाती हैं |

पानी बन बहे जहाँ ज्योति,
रुको;
रुदन नहीं ज्योति का स्वभाव,
कहीं छल होगा |

•

6— हँसी के पाश

हा हा हा हा हा हा ! ! ! ! ! !
खोखली हँसी हम सब हँसते हैं |
गूँजते हुए लम्बें पाशों से—हँसी के,
इसको, उसको, खुद को, कसते हैं |
जानते हैं— हँसी यह
खोखली है, झूठ है, दिखावटी है,
फिर भी हम इसी कसौटी पर
कंचन से निर्मल सम्बंधों को कसते हैं |

कहते हैं एक ज़हर ऐसा भी होता है

खाने पर भी जिसके—

डूबता नहीं है मन,

ऐंठता नहीं है तन

सिर्फ़ हँसी आती है

सिर्फ़ हँसी आती है

हा हा हा ! ! !

•

7— आत्महत्या—एक अनुभूति

चाहता हूँ पा सकूँ

उस एक क्षण की

—नहीं—

क्षण के भी विभाजित

मात्र उतने अंश की अनुभूति

जितने में अनाहत धार जीवन की

अचानक मौत की काली गुहा में डूब जाती है |

चाहता हूँ शक्ति वह पहचान लूँ

जो स्निग्ध जीवन की शिराओं में

हलाहल छाँह-सी अन्तर्निहित रहकर

गँठीली लौह निर्मित उँगलियों- सी ऐंठ

अन्तिम श्वास का दम घोट देती है |

कौन-सा आघात, कैसा दर्द, कैसी व्यथा, कैसी घुटन, कैसी छटपटाहट

जो सहसा उभर उठती उन्हीं प्राणों से

जिन्हें अस्तित्व अपना मान लेता है

तिमिर किसकी फटी आँखों का

अँकुरती- सी अछूती चेतना की—

रश्मियों को निगल जाता है |

धड़कनों के बीच है वह कौन-सा कुंठित हिमाचल

पत्थरों की हड्डियों पर पिघलते हिम कफ़न ओढ़े

मृत्यु की जड़ता सिहरती स्पर्श से जिसके |

कौन-सी सीमा कि जिसके पार

स्वेच्छा से मरण का वरण होता है |

अधर पर रखकर अधर यम की कुमारी

प्राण-रस चूस लेती है|
मृदुल, मसृण, मृणाल बाँहों के सघन आलिंगनों का पाश
माथे की, गले की नसों को कस रूँधता
लोहू जमाता
रीढ़ तक के जोड़ सारे तोड़ देता है|

मानता हूँ खुदकुशी को कायरों का काम
निश्चय, आत्मघाती भावना से घृणा करता हूँ |
मगर इस क्षण न जाने क्यों यही जी चाहता है
झाँक लूँ उस अंध तमसावृत अजाने लोक में
जिसमें हजारों प्रेत बसते हैं |

बहुत संभव है वहीं कुछ शान्ति मिल जाये
बहुत संभव है कि हों वे प्रेत अधिक उदार
इन भूलोकवासी सभ्य संस्कृत प्राणियों से
बहुत संभव है कि उनके ठहाकों में
कहीं कुछ सद्भाव भी मिल जाय |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 17-18

•

8— बच्चों के बीच

दुनिया का दर्द भूल जाता है
बच्चों के बीच |
जाने यह कैसा-सा नाता है
डूबे मन को भी ले आता है

दुख की गहराई से खिंच |

क्षण भर में
खिल खिल खिल हँसी
सरल मुसकानें
क्षण ही में टप टप टप लगते आँसू आने
भोले मुख पर बिम्बित आत्मा का सहज रूप
राग-द्वेष से विरहित
अकलुष आभा से पूरित, पावन |

सब कुछ खोकर भी मन
जैसे इनमें ही अपने को फिर पाता है
जाने यह कैसा-सा नाता है
दुनिया का दर्द भूल जाता है
बच्चों के बीच

•

9— छाया-भीरु

शैशव में जिनसे पाया दुलार
रख किशोर कंधों पर जिनकी निर्जीव देह
सोचता रहा प्रतिक्षण—
सोये हैं, अभी जाग जायेंगे पिता
किन्तु मेरा वह स्वप्न, चिता—
लपटों में लील गयी |

उस दिन से

पैरों से लिपटी छाया से डर लगता है |

कंधों पर कितने शव और धरे,

श्मशान का अनुभव यद्यपि अब नया नहीं,

लेकिन वह छाया-भय गया नहीं |

कभी-कभी पैरों की ओर देख—

अब भी डर जाता हूँ |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 20

•

10— तब जा कर चैन मिला

सामने

जूते पर जूता पड़ा है |

लगा—जैसे पंजे पर पंजा किसी ने रख दिया हो

दुख आया जी

उफ़ ! उँठू ?

ठीक कर दूँ ?

छिः

होगा

बिना पढ़े पुस्तक के पाँच छै पृष्ठ पलट गया

फिर सहसा

पंजे पर अपना ही पंजा धर कर देखा

दर्द हुआ

उठा और जूते पर से तिरछे जूते को हटा दिया |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 21

•

11— अयाचित दान

स्वर्ग साहस और कायरता नरक है |

यही केवल यही

अनगिन यातनाओं से अयाचित दान—

मन को मिला |

झेला जितना दुःख जितना झिला

यह खरा सोना बड़ी तीखी तपन के बाद आया हाथ

हो गया जब राख, जलकर, ऐंठकर अभिमान |

एक क्षण ऊँचाइयों पर पाँव रखने का

अगर चूका—

युगों तक फिर नरक का दाह

कुंभीपाक—

योजनों गहरा अपार अथाह

ग्लानि का चिपचिपा गाढ़ा कीच |

व्यस्त कायरता कड़ी के बाद रचती कड़ी

बिसहर लौह साँपों की

खींच—

कस-कस बाँधती उस चेतना के अंश को

साहस किया जिसने कभी विष-शृंखला को तोड़ देने का |

विषमताओं बीच हो विजयी न भी—

पर व्यक्ति साहस-सर उठाता,

जूझता, लड़ता, बिखरता, टूट जाता |

अभी उसने यही पाया—

यातनाओं से अयाचित दान |

कभी पायेगा विजय का भी अमृत वरदान |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 22

•

12—अन्तर्दर्शन की छाया में

कभी-कभी
पलक—
—ज्योति-छाया के स्वगत पट
हो जाते बंद,
दृष्टि भीतर की ओर फैल जाती
बाहर से हट |
परिचित सीमाएँ खो जातीं सब
मन के गहरे तम-आलोक में |
लगता जैसे कोई धारा हो
आदि-हीन, अंत-हीन;
अनजाने कूलों से टकराती, हहराती—
क्षण की गहराई में सब कुछ कर रही लीन |
लगता जैसे उसका ही टुकड़ा
बाहर वाला जीवन सारा हो |
भला-बुरा जो चाहो कहो
किन्तु यह अन्तर्मुखी दृष्टि
कभी कभी राह फेर—
प्राणों में निहित किसी गंगातट पर जाकर
पूजा की पाँखुरियाँ
अक्सर आती बिखेर |
जीता हूँ—
शत-शत शिशुओं के शुभ जन्म-क्षणों में पुलकित;
मरता हूँ—
जरा-जीर्ण अनगिन कायाओं के संग संग |
इस अन्तर्दशन की छाया में ही— असंग,

—कभी- कभी |

•

13— नया अर्थ

नया अर्थ
खोज-खोज हारा
अंधे मन के ढूहों में
मुरझाये स्वप्न के समूहों में,
गया व्यर्थ—
सारा श्रम |

लेकिन जब उलटा क्रम
देखा तलवासी आत्मा के उजियारे में—
कौंध उठा घर बाहर;
तीखे कटु अनुभव के वाणों से
बिंध-बिंध कर प्राणों से—
फूट पड़ा नया अर्थ
—ज्यों निर्झर |
अपना पथ स्वयं खोज लेने में,
जीवन को नयी शक्ति देने में,
पटु, समर्थ |

•

14—मुक्त समय

दृष्टि को हमारी जो बाँधे है
शृंखला क्षणों की यह,
खोल इसे
थोड़ी-सी देर को
निर्मल अभ्यन्तर की
मौन स्वच्छ आँखों से
मुक्त समय को देखो,
शान्ति मिलेगी गहरी |

•

15— टेरो मत

टेरो मत |
बाँहों से मुक्त किया—
वाणी से घेरो मत |

दूर हूँ,
दिशाओं का सारा व्यवधान चीर—
रह-रह कर बोल रही
इन बड़री आँखों से
हेरो मत |
दया करो,
टेरो मत टेरो मत
टेरो मत |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 29

•

16— आत्मनिषेधः एक दृष्टि

जैसे मैं नहीं हूँ कोई
तुम भी कोई नहीं हो |

या तो हम सत्ता हैं अपने निषेध की,
या फिर हैं स्वीकृति असत्य आत्मवेध की,
अथवा हम केवल हैं विद्ध
—क्रौंच पक्ष-हीन,
या केवल व्यथा मात्र, अन्तर्हित, आत्मलीन |

दर्शन नहीं है यह दृष्टि है |
होने पर अपने संदेहों की सृष्टि है |

जैसे मैं जाग रहा हूँ इस क्षण
शायद तुम भी सोई नहीं हो |
जैसे मैं नहीं हूँ कोई
तुम भी कोई नहीं हो |

•

17—मथित का अहम

मथो जितना मथा जाये |
अब नहीं है शेष कोई रत्न
जो दे दूँ तुम्हें मैं,
विष-अमृत तल-अतल में जो रहा संचित
उर्मियों का प्रथम उद्वेलन उसे—
कब का समर्पित कर चुका |

क्रूरता-करुणा भरे ओ
देव-दानव की अपरिमित शक्ति वाले हाथ
मथो जितना मथ सको
सूख ही जाऊँ—
कभी यदि कहूँ मंदर टार दो |
उफ़ नहीं होगी
भले ही हड्डियों तक पैठ जायें
दृढ़ कमठ के नख नुकीले |

मथो जितना मथा जाये |
फेन-विह्वल मछलियाँ अंधी भले हो जायँ,
बनें बंध्या सीपियाँ
मोती सिरजना बंद कर दें
अंत तक यूँ ही रहूँगा मौन;
मथित का भी एक अपना अहं होता है |

•

18—सूरज चाँद की घाटी

हिम अनावृत उगे सूरज चाँद
—दोनों साथ ही,
गहिर सँकरी वक्ष की घाटी
अरुण-सित रश्मियों से दिप उठी
गौर अंगों पर उषा के फूटते संधान

उजले रूप-जल में डूब जाते,
छोड़ रंजित वृत्त |

पंकमय त्रिनयन-वृषभ से शुभ्र उन्नत—
पाण्डु शिखरों पर जलद आवृत |

उष्ण रस-वाही

प्रखर स्रोतस्विनी की धार जैसा—
कुनकुना अश्लेष |

लीक रच कर टूटते तारक सदृश श्रम-बिंदु |

'एतन्मांसवसादिविकारम् |
मनसि विचिन्तय बारम्बारम् |.....'

ज्ञान की यह बेधती अनुगूँज
टकराकर शिलाओं से
विजन में खो गयी |

बढ़ हृदय के उमगते स्वर ने कहा—
'स्नेह के अतिरिक्त सारी बात अनपेक्षित |'

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 32

•

19—बेंदी

उगी गोरे भाल पर बेंदी |

एक छोटे दायरे में लालिमा इतनी बिथुरती

बाँध किसने दी |

नहा केसर के सरोवर में

ज्यों गुलाबी चाँद उग आया |

अनछुई-सी पाँखुरी रक्ताभ पाटल की

रक्तिमा जिसकी, शिराओं के—

सिहरते वेग में

झनकार बन कर खो गयी |

भुरहरे के लहकते रवि की

विभा ज्यों फूट निकली चीरती-सी कोर हलके पीत
बादल की;

रात केशों में सिमट कर सो गयी |

अरुन इंदीवर खिला ईंगुर पराग भरा

सुनहले रूप के जल में |

अलक्तक की बूँद

झिलमिल : स्फटिक के तल में |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 33

•

20—स्पर्श-गीत

शब्द से मुझको छुओ फिर,
देह के ये स्पर्श दाहक हैं |
एक झूठी ज़िंदगी के बोल हैं
उद्घोष हैं छलके;
ये असह,
ये बहुत ही अस्थिर
—बहुत हलके
महज़ बहुरूपिया हैं |
जो रहा अवशेष—
उस विश्वास के भी क्रूर गाहक हैं |
इन्हें इनका रूप असली दो—
सत्य से मुझको छुओ फिर |

पूर दो गंगाजली की धार

से
प्राण की इस शुष्क वृन्दा का—
पिपासित आलबाल;
मंजरी की गंध से नव अर्थ हो अभिषिक्त

अर्थ से मुझको छुओ फिर |

सतह के ये स्पर्श उस तल

तक नहीं जाते,
जहाँ मैं चाहता हूँ तुम छुओ मुझको |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 34

•

21—शीशे के सामने शीशा

आँखों ने आँखों में देखा—
जैसे शीशे के सामने शीशा |
हम तुम—
जैसे मोगरे के फूल |
कुसुम के अन्दर कुसुम,
लहर के बाद लहर,
कूल के बाद कूल |

नीली गहराइयों में तिरती हुई आँखें,
डूबते हुए अधर |
उजली ऊँचाइयों पर फैलती हुई पाँखें
सिमटते हुए स्वर |

दो दिशाएँ, एक आकाश
द्वार, द्वारों में खुलते हुए द्वार,
विस्तार—असीम—अपार—
रूप के भीतर रूप |
आँखों ने आँखों में देखा—
जैसे शीशे के सामने शीशा |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 35

•

22-मिलन क्षण के अंतराल में

मिलन के उस अप्रत्याशित क्षण के अन्तराल में

दोनों ने एक दूसरे को देखा—
देखते रहे—देखते रहे |

पलकों पर चुम्बन के फूल नहीं बरसे,
हमेशा की तरह
अधरों तक अधर नहीं गये,
गरम श्वासों में उलझ कर अलके नहीं काँपीं,
बस दोनों ने एक दूसरे को देखा—
देखते रहे— देखते रहे |

बाहर सब कुछ स्थिर, सब कुछ अचल
भीतर समुद्र उमड़े, प्रभंजन बहे, बादल घहराये,
प्रलय हुई, धरती डूबी-उतराई,
सृष्टि का प्रत्येक चिह्न मिटने लगा—मिट गया

पलकें न झुकीं, न गिरीं—
—एक काली छाया थी जो आँखों से निकल कर
आँखों में तैर गयी;

—एक ज़हर था जो पुतलियों में—
सिमटता रहा— सिमटता रहा;
—एक दर्द था जो आँसू न बन कर
सिर्फ़ दृष्टि बन गया था—
और दृष्टि भी वह जिसके तल पर काई जम चुकी थी |

किसी ने कुछ नहीं कहा—
सर झुकाया और विदा हो गये |

•

23—थाह
अंधेरा घुप्
ताल का तट चुप्
एक कंकड़ डुप् !
दूसरा डुप् !!
तीसरा डुप् !!!

भला यह क्या खेल ठहरा,
फूलती साँसें समेटो,
खुली वेणी में अंधेरा बाँध लो,
गौर माथे से पसीना पोंछ डालो |

कंकड़ों की चोट दे
पायी किसी ने थाह अब तक ?

कहाँ कितना नीर गहरा
हो सके तो स्वयं तल तक पैठ कर देखो;
कौन जाने ताल ही यह अतल निकले |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 37

•

24—बादल और कच्चे घड़े

ओ रे अविवेकी
जिन पर कारुण्य उमड़ता तेरा
ये सब घट कच्चे हैं |

तेरा आवेग प्रखर,
धार नहीं पायेंगे |
एक दौंगड़े से ही—
घुलकर गल जायेंगे |

धवल पारदर्शी जल
इन पर पड़ कीचड़ कहलायेगा |
तेरी ममता की कुछ बूँदों से
इनका अस्तित्व बिखर जायेगा |

ओ रे ओ नभचारी !

झाँप नहीं सूरज को
अपने इन श्यामल जल-पंखों से |
तपने दे अभी और—अभी और—
अग्निदाह की तीखी अन्तर्भेदी ज्वाला
बुझा नहीं

—शीतल द्रव रिमझिम से
तपने दे अभी और तपने दे,
तन मन सब अनुभव की आँच में पनपने दे,

पकने पर शायद कुछ धार सकें |
कच्चे घट जितना भी पकें, पकें |

जो जल को मोती कर दे
ऐसी सीप विरल होती है |
ये घट तो सब के सब कच्चे हैं—
जिन पर तेरी करुणा रोती है |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 41

•

25— डरो नहीं

अक्षय तूणीर नहीं काया का

तो भी क्या !

डरो नहीं,

पास में तुम्हारे अब

जितने भी क्षण शर हों

साहस-धनु पर रोपो—संधानो

चुटकी से पकड़ पनच खींचो, खींचे जाओ

व्याल व्याघ्र जो कुछ भी कहो उसे

लक्ष्य जो तुम्हारा है, व्यापक है

अगणित हैं मुख उसके— लेलिह्य, दीर्घजिह्व

शरों से तुम्हारे कम पैनी भी नहीं उग्र दंष्ट्राएँ

ऊपर-नीचे आगे-पीछे भीतर-बाहर

सभी कहीं, सभी ओर

फैलीं उसकी दाढ़े, फैली उसकी जीभें |

उधर मुड़े

मांस इधर का सारा नोच लिया;

घूमे इस ओर

अस्थि-आस्था सब कुछ उसकी दाढ़ों में |

कितना गुंजलक भयद |

विजय अभी कहाँ

त्राण कसे हो ? यही प्रश्न |

अगणित कर, अगणित दृग, अगणित मुख

हो कर लड़ना ही केवल उत्तर |

अहरह संग्राम किन्तु विगत ज्वर |

खिन्न चाप भू पर तुम धरो नहीं,

डरो नहीं

कातर मत हो, ओ मन !

तुम्हीं पार्थ, तुम्हीं कृष्ण,

साहस विवेक—

जहाँ भी होंगे जय होगी |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 42-43

•

26— दीप का वक्तव्य

दीप तैराओ न लहरों पर

ज्योति का यह स्वल्प उज्ज्वल दूत

इस हिलकोरती जल-राशि के विस्तार में
निर्द्वंद्व कब तक बह सकेगा ?

अग्नि का नन्हा चपल संकल्प
क्रुद्ध झंझा के प्रवेग-प्रहार में
निष्कम्प लौ-अभिषिक्त कब तक रह सकेगा ?

"अग्नि का संकल्प हूँ,
नव दूत भी हूँ ज्योति का मैं
किन्तु नन्हा स्वल्प मुझको मत कहो
इसमें अनादर है निहित उस विभा का
मैं हूँ ज्वलित संकेत जिसका |

दीप हूँ, अपने समुज्जवल रूप में पूरी इकाई
आज तक आलोक की मेरी परिधि
तम के विवर्तित भार से टूटी नहीं है |
ज्योतिमय अन्तःकरण की पूर्णता को—
कौन कर पाया विभाजित ?"

सहनशीला माँ धरा ने जिसे सिरजा
स्नेह सिंचित वर्तिका जिसके हृदय के निकट अब भी
—प्रेरती आवर्तमय जल-राशि ही उपयुक्त उसको |

मत डरो,
दीप को जल-राशि के अर्पित करो |

बुझेंगे सब दीप, पर यह—

उर्मियों की चुनौती को शीश पर लेकर बुझेगा |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 44

•

27—तूफ़ान दोस्त है

तुम कह रहे हो कि तूफ़ान आ रहा है—

हर एक को चाहिए अपना-अपना द्वार बंद कर ले |

आँधी.....अंधड़.....ओले.....

उबाल की तरह लपेटे ले लेकर उठते हुए धूसर झोंके.....

तुम चीख़ रहे हो.....

बन्द करो, बन्द करो—

हर दरवाज़े, हर झरोखे को,

दरवाज़ों और झरोखों की साँकलों की ढिलाई से—

उसमें आने वाली हर दरार को,

चौखट की हर संधि को

मूँद दो |

धूल आँखों को नहीं प्राणों तक को भर देगी |

ओले शीशों को ही नहीं विश्वासों को भी तोड़ डालेंगे |

झोंके द्वारों को ही नहीं पसलियों को भी चीर कर धँस जायेंगे |

अंधड़ कमरे में ही नहीं सारे अस्तित्व पर छा जायेगा |

तुम कहते हो कि तुम्हारा यही विश्वास है,

यही आस्था है

पर मैं हूँ कि चाहता हूँ—

अंधड़ आये और जी भर का आये

दरवाज़ा बन्द होते-होते जब खड़खड़ा कर खुल जाता है

तो—जैसे मैं जी उठता हूँ

लगता है जैसे कोई बोझ था, उतर गया |

जानते हो—शोर में सत्य खो जाता है

चीख़ना बंद करो तो कुछ कहूँ

सुनो ! सुनो !! सुनो !!!

अंधड़ शब्दों तक छीने लिये जा रहा है—

पर, शब्दों को छीन ले जाने वाली हवाएँ ही शब्दों की वाहक हैं,

इसीलिए इस तूफ़ान को आने दो

जो आवाज़ तुम मेरे कान फोड़ने के लिये इस्तेमाल कर रहे हो

उससे इसे पुकारो—और ज़ोर से पुकारो

और कह दो कि वह दरवाज़ों को ही नहीं

इस कमरे को भी उड़ा ले जाये

ईंट से ईंट बजा दे

ताकि कुछ देर तो यह महसूस हो सके

कि अब कोई ऐसी चीज़ नहीं है

जिसमें शुतुर्मुर्ग़ की तरह वास्तविका से मुँह छिपा कर

बैठे रहने की बात दिल में उठे |

और तब—

मेरा विश्वास है कि तुम्हारा चीख़ना

खुद ब खुद बंद हो जायेगा |

यह तूफ़ान नहीं, दोस्त है

बहुत दिनों बाद आया है

शोर क्यों मचाते हो

उठो !

इसका स्वागत करो |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 45-46

•

28—परम्परा

छुईमुई की भी क्या परम्परा,

बाहरी प्रभाव की अँगुलियों ने—

धीरे से

जहाँ छुआ, वहीं मुई |

परम्परा बरगद की

शाखा से शाखा का अनुबंधन,

तूफ़ानों में भी जो अडिग रहे

जिसकी जटिलता भी वंदनीय,

—धरती को छूते ही मूल हुई |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 47

•

29— जाड़े की रात

कोयले की नोंक पर है शेष चिनगारी अभी तो,

जोहती है बाट—

स्नेह विह्वल श्वास के संस्पर्श की |

जाग उठने को समुत्सुक

आँख के तारे सदृश अनबोल

फिर भी ज्योति-आवाहन मुखर है |

श्वास दो ! इसको जिलाओ,—श्वास दो ! !

ठिठुरती यह रात जाड़े की

पड़ेगी काटनी ही

बुझ गयी यह अगर तो

श्वेत पाले की रज़ाई ओढ़

तीखी हवा पैनी छुरी से—

छिप प्राणवाही फुस्फुसों को छेद जायेगी |

उष्ण लोहू धमनियों में—

स्याह पड़ जम जायगा

फैल काले कोयले की छाँह जायेगी नसों में |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 51

•

30— नयी रेखाएँ

तरुण मुख पर

झुर्रियाँ काली घुटन की |

कर लिये स्वातंत्र्य के दस वर्ष पूरे,
बहुत श्रम के बाद यह फ़स्लें उगी हैं
पके धानों की सुनहली बालियाँ !
शस्य-श्यामल-भूमि के पुत्रों ! उठो,
उत्सव मनाओ
इस उपज के हर्ष में होली जलाओ
रंग अबीर गुलाल छींटो |

तूलिका दो
फलक लाओ
चितेरा हूँ
रंग-रेखा से मुझे है प्रेम
विवश मेरी दृष्टि पड़ती है वहीं—
नयी रेखाएँ जहाँ पर दीखती हैं |

•

31— टीसती इकाई

क्या कहा कवीन्द्र !
महामानव-समुद्र है हमारा यह देश ?
रुको,
अपने परिकल्पित विराट् दिव्य रूपक में
मेरा लघु स्वर भी मिल जाने दो—
—क्षार से विषमता के

लहर लहर कुंठित है |
—स्वार्थों के पंकिल तल में
सारे मणि-मुक्ता खोये हैं |
—भेद-भाव के हिम से
बूँद-बूँद ठिठुरी है |

तुम थे परिपूर्ण
पूर्णता पर ही रीझ उठे
पर मैं हूँ रिक्त
रिक्तता ही छू पाता हूँ |
क्षार, पंक, हिम सबसे अभिशापित
जलनिधि में प्यासा हूँ |

कांक्षी हूँ गति का, रत्नों का, मधुराई का
बिन्दु हूँ अकिंचन इस सिंधु का
लहरों से बँधा—
किंतु टीसती इकाई में |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 53

•

32—अतर्क्य

ढचमचाती बैलगाड़ी
तखत टूटा
बिछी पीली लाल साड़ी,
तीन छोरे

एक काला और दो गोरे

मुखों पर पाउडर थोपे पसेरी भर

लगाये टिकलियाँ, भौहें रँगे

पहने मुकुट कुंडल

रँगीली चमचमाती पन्नियों वाले |

धनुष-वाण खपाचियों के और सिरकी के

बल्ब नीले हरे, बुझ-बुझ कर चमकते—

प्रेत की आँखों सरीखे |

चला आगे और पीछे गोल लौंडों का

मचाता शोर हुल्लड़

मिली उससे गूँज लाउडस्पीकरों की—

"....ज़माना ये समझा कि हम पी के आये हिच्, पी के आऽऽये

"....कभी आर कभी पार लागा तीरे नज़र... लागा तीरे नज़र

"....देख तेरे भगवान की हालत क्या हो गई इंसान |

....कितना बदल गया भगवान...

किन्तु इसके बाद भी

पुलक पूरित भक्त के भोले हृदय को लगा—

छोड़ कर निज धाम

जैसे लखन-सीता-राम

फिर से आ गये साक्षात् हों भू पर |

भावना का सत्य निश्चय,

बुद्धि के हर छोर से ऊपर |

ठीक ही तो दास तुलसी ने कहा था—

"राम अतर्क्य बुद्धि मन बाऽऽनीऽऽ |"

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 54-55

•

33—सीधी बात का काँटा

'देस पूरब में—

अभागा भूख से कोई मरा'

—यह बात कहने में बहुत सीधी |

पर कहीं इस सिधाई में भी छिपा काँटा,

उसी ने चेतना बीधी |

मौत भी क्या खूब—

जो खत्ती भरे उन पर रख कर दाँत

मरभुखों की खिंची सूखी आँत पर गीधी |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 56

•

34—अहरह आलोक छने

झूठ का दायरा टूट के—

ज्योति-पथ बने |

जीवन के द्वार-द्वार

पावन संकल्पों की—

नव बन्दनवार तने |

जन-जन की छाती में
दबे बीज आस्था के—
लगें जागने उगने |

नये दीप की लौ जैसी टिमके—
नयी दृष्टि,
अनृतों की धुर काली झँझरी से—
अहरह आलोक छने |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 57

•

35—कछार के खेत

हरे खेत कछार के
कुछ धार के—
इस पार के,
कुछ धार के—
उस पार के,
हरे खेत कछार के |
झुंड तोतों के उतर आये हज़ारों
भूमि पर
चौकोर घेरों में;
चुप इन्हें देखो—
नहीं उड़ जायँगे हरिअरे पंख पसार के |

हरे खेत कछार के

झोंपड़े सुथरे, छये कुस-फुस-काँसो से
पड़े बीचोबीच पाँसों से,
जल-भरी गगरी लिये चलतीं सँभहल कर काछिनें
घनी चौपड़ में बसी रंगीन गोटों-सी,
रह गयी भू पर बिसात बिछी हुई,
उठ गये सारे खिलाड़ी हार के |
हरे खेत कछार के |

तैर जाती आँख तोतों की हरिअरी पाँत में |
बसी गोटों; पड़े पाँसों और बिछी बिसात में |
विरस दिन-भर का थका मन, दहकता माथा
टेक देता हूँ
रेत की उँची धवल सुकुमार मेड़ों पर—
रहीं जो गूँजती अब तक
दूर उँटों के सुदीरघ कंठ की लघु घंटियों के
टुनकते स्वर से |
चिह्न मिट जाते लहर के, भार के |
हरे खेत कछार के |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 61-62

•

36—अंकुरित यौवना—धरती कछार की

कहीं-कहीं पर कुछ कुछ डहडही

हरी-भरी अंकुरित-यौवना
धरती कछार की |

ताज़ी सोंधी सोंधी गंध लतर-सी उलझी
आँचल को खींचती |

भराभर दुपहरी में—
पानी में पाँव डाल
बैठी ढीठ
सूरज को दिये पीठ

भेद-भरी अँखियों से
मुड़-मुड़ कनखियों से—
देखती; लजाती अपने से ही,
फिर सहसा
खिल खिल खिल खिल हँसती
गदराई बाँहों में तन कसती
अनजानी अभी रीति प्यार की |

•

37— लोहार की दूकान

चाँद की निहाई पर
एक के बाद एक
लगातार घन चलते रहे;

आवाज़ों की तीखी चोटें दिशाओं को गुँजाती रहीं |

तारों की चिंगारियाँ

छिटक-छिटक कर

सारे आसमान में फैलती रहीं|

पसीने की बूँदें—

झुटपुटे में ओस को कौन देख पाया झरते हुए |

भोर के बलिष्ठ हाथों ने

पूरब की भट्टी से लाल-लाल दहकता गोला निकाल

पर वह निकलते ही रात की लम्बी काली सँडसी से छूट गिरा

गिरते ही ढुलक चला पश्चिम की ओर

अँधेरे के लोहार ने लाचार

सुबह से ही अपनी दूकान बढ़ा दी,

ताजी हवा की ठड़ी साँस भरते हुए |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 64

•

38— उल्का

शून्य में फैली हुई जड़ कालिमा से

कहा किसने माँ :

दूधमुहाँ शिशु

सितारे-सा कौन टूटा

ज़िंदगी के तप्त तीखे अनुभवों के बीच
छटपटाते दर्द से किसने पुकारा ?

अँधेरे की रिक्त छाती में
उतर आया
दूध सा वात्सल्य |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 65

•

38— नैनीताल की दोपहर

शिखरों से उतर रहे बादल जसे रुई,
ऊर्ध्वमुखी गुच्छों की सुइयों से गेरुई—
चीड़ की कतारों से कसी-बँधी राह पर,
चितकबरी धूप बिछी चीतल की खाल-सी |

रुपहली मछलियों-सी, झोकों की धार में,
तैर रहीं बाँझों की पत्तियाँ बयार में,
मन की गहराई के भीतर तक झाँकती,
कूलों पर दीठ झुकी मजनूँ की डाल-सी |

शुभ्र जलद-वलियत तरु हरित देवदारु के,
पल्लव-कर आशिष-सी देते रहते झुके,
पर्वत के गर्वोन्नत चट्टानी शीश पर,
निर्झरिणी उलझ रही रेशम के जाल-सी |

सिंदूरी नावों पर फहर रहे दूधिया—
पालों की नोकों ने जल का मन छू दिया,
हरी चटक लहरों पर थर थर थर काँपती
सूरज की परछाँई सोने के थाल-सी |

काफल का स्वाद अभी होठों पर सो रहा |
जी यों ही बिखर-बिखर जाने को हो रहा |
उस मरकत घाटी के आँचल की ओट में—
बादल सा अटक रहा मेरा मन आलसी |

झिल्ली की झनकारें, बेले के बोल-सी,
प्राणों में डोल रहीं हिलते हिंदोल-सी,
अनचाहे दर्द उठा, पलकों पर छा गया,
सुधियों से आँख भरी बरसाती ताल-सी |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 66

•

40—निकला चाँद

चाँद निकला—
किन्तु सिन्धु मथा नहीं देवासुरों ने,
वासुकी मंदर बिना ही
मथ उठा तल तक हृदय उद्दाम
अपने आप

लहर कोई भी नहीं काँपी मगर—
विक्षुब्ध आलोड़न नसों में बह गया
झकझोरता-सा हर सुदृढ़ संकल्प को
आवेग का आवर्तमय संचार फूटा
नीर का ज्वालामुखी
पिघला, बहा—निःशब्द

सिंधु-तल में
और जितने रत्न थे
सब को गरल-सा ही व्यथा ने पी लिया
बस, एक निकला चाँद |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 67

•

41—एक बरसाती पूनो

आज पुनो है मगर इन बावले धाराधरों ने
भोर से ही भर दिया आकाश
टपकती बूँदें रहीं इतनी कि—
बिछलन डगर-डगर फिरी
न पाया आसरा कोई
रुकी मन के ओसरे में
जहाँ पर साँस ली थी बैठ बरसाती अँधेरे ने |

हठी बादल घिरे, बरसा किये |

देखने को चाँद हम मायूस तरसा किये |

बाल बिखराये हुए बरसात का स्यापा,

भूमि से आकाश तक व्यापा |

चाहता है जी अगर नाखून पाअ जाऊँ नृकेहरि के

कलेजा चीर डालूँ इन हिरण्यकशिपु सदृश

विद्युत-निवेशित नीरदों का

और पा लूँ

चाँद को पूरा इसी क्षण |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 68

•

42—हरसिंगार की गंध, चाँदनी रात में

आँज गयीं किरनें

पराग की धूल से

नयन स्वप्न-छवि-अंध

—चाँदनी रात में |

घूम रहा मन मुग्ध

सुरभि बाँहों भरे

पवन सदृश निर्बन्ध

—चाँदनी रात में |

आयी, कुछ चुपचाप—

कान में कह गयी

हरसिंगार की गंध

—चाँदनी रात में |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 69

•

43—पिछले पहर

चाहता है जी

उमड़ कर डूब जाये

देख बहती—

पाश में आकाश के

व्योम-गंगा की उजास-लहर |

जी उठे मर कर जिसे छू जाय

चाँदनी की देह

किरनों का सफ़ेद ज़हर |

कितनी शान्त

कितनी असह

यह उजाली रात

पिछले पहर |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 70

•

44—नदी—रेख

मत देख

अनिमेख
बहती नदी-रेख |
दुख ग्रीष्म का ताप—
तल तक रहा व्याप,
हर स्वप्न जल-हीन—
बालू पड़ी मीन,
हर साँस के बीच अंगार अनदेखा |

हर शब्द जलता हुआ स्वार्थ का दंश,
निर्माण की पंक्ति के बीच भू-भ्रंश,

आकाश संकल्प
पर शक्ति-कण स्वल्प,
यह रेंगती धार
कैसे बुझा पायगी दग्ध अंगार ?
झूठी हुई बात, धुँधले पड़े लेख |

मत देख
अनिमेख
बहती नदी–रेख |

•

45—ध्रुव—तारा
एक लघु विश्वास का तारा,
सदा उत्तर में उगा रहता
किसी भी प्रश्न के—

जो छोड़ जाती कूल पर आकाश के
तम-वाहिनी आलोक की धारा |

मार्ग दर्शक—
भावना के हर बटोही का
उलझ कर जो
नियति के नागपाशी पंथ से हारा |

शून्य-पथ में थिरकते हर बिन्दु को
देता चुनौती
परिस्थितियों के सजल सप्तर्षियों के बीच
अब भी अडिग है वह
आत्मबल संचित किये सारा |
एक लघु विश्वास का तारा |

•

46—साँझ के बादल

जल्दी से
कंघी कर
जूड़े में चाँद खोंस,
उलझे बालों के गुच्छे लपेट
फेंक दिये खिड़की से जो काली रात ने
सोन नीर भरे गहर कुंकुम के तट वाले ताल में,

वे ही ज्यों आँखों के आस पास तैर रहे,

स्वर्णारुण जलद खंड चुप संझा-काल में |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 73

•

47— साँप, ओस और दूर्वादल

उठे काँप

दूर्वादल

देखा जब केंचुल को छोड़ साँप

बाहर आया |

यों गीली माटी पर सरक चली

उजली काया

जैसे मरकत पर

मृदु-मेचक जमुना की लहर बही;

धरती निज छाती पर लहराती लीक लिए

मौन रही |

दबे सटे होंठों के छोटे से रंध्र से

दोहरी पतली काली लपलप जिह्वा निकली

चाट गयी ओस विन्दु

सब मुक्ताफल जल के

रजनी के श्रमसीकर

पीकर

ज़हरीली जमुना की वह एक लहर
तट पर कुछ देर ठहर
सरक चली |

दूर्वादल खड़े रहे
रिक्त कोष, नमित शीश
दोहरी पतली जिह्वा के वे शर-तीक्ष्ण छोर
मन के भीतर गहरे गड़े रहे |

जी भर उस चक्षुश्रवा ने उन्हें देखा
पर सुना नहीं—
उनके उर से उठते भीषण चीत्कार को
क्रूर वायुभक्षी ने पिया नहीं प्राणों को
प्राणों से भी प्रियतर
भोली शबनम की जल-बूँदों को चाट गया
मणिधर था या विषधर ?

काँप उठे दूर्वादल
खोकर मोती-सा जल |

•

48—सलाखें

दो सफ़ेद फूल गुलाबों को

स्वप्नोत्थित आँखों पर ढाल कर |
मैंने उनके मृदु अन्तस्तल में छिप
पलकें खोल दीं |

मीलों तक विस्तृत किंजल्क कर्णिकाओं के
गहन कान्तारों में—
गंध-अंध पागल पुतलियाँ भटकीं-भूलीं |
वरुनी के नीचे वे पाटल-दल
चौड़ी उत्तुंग हिम-शिलाओं के सिलसिले—
रेवा के मर्मर-घाटी-पथ में
श्लथ राका रथ किसने रोक लिया |

सहसा पंखुरियाँ सब टूट कर बिखर गयीं
धरती पर फैल गया सपना सौ टूक हो |
विस्तृत वन, घाटी-पथ |
शुभ्र हिमशिलाएँ, रथ—
सब के सब छोड़ गये
डंठल दो
बेधते पुतलियों को |
दर्द और व्यंग की तीखी सलाखों से |
आँखों से—
हटा लिये जाने के बाद भी
चुभते जो रहे बड़ी देर तक |

•

49—रेत की लहरें

रेत की लहरें—

अनछुई, अकलुष उमड़ती कल्पना के वेग की आरोह-रेखाएँ,

स्वप्न-रेशम-जाल के विस्तार की सोपान-सीमाएँ,

भंगिमाएँ शुभ्र स्थिर जल के सरल आश्लेष की,

शृंखलाएँ जड़ित स्मृतियों के हिलुरते झिलमिलाते वेश की,

तैरतीं तरलाभ मृगजल बीच छायाएँ अछूते चाँदनी के देश की |

थीं जहाँ जल की अतल गहराइयाँ

शेष केवल रेत की लहरें|

सत्य का कुछ रूप यों ही है

कि अकलुष रिक्तता में हाथ आता है |

युग युगों की प्यास के अनुतप्त कोषों को,

अनकहे सौन्दर्य की रस-स्निग्धता से पूर जाता है |

रेत की जलहीन लहरों पर

आँख हो तो देख लो

पारदर्शी रूप का सागर लहरता है |

यह किनारे पर झुकी तरु-पाँति अनगिन शंख-सीपों का बसेरा—

चाँद यह निश्चय किसी वर्तुल रजत जलयान का तल है

आ रुका जो तारकों के स्वर्ण-दीपों में |

भोर की यह फूटती प्रत्युष आभा,
अरुण वाडव-ज्वाल की छाय|

ये विहग, ये बादलों के इन्द्रधनुषी टूक
सतरंग मछलियाँ है तैरती नीलम गगन-जल में;
और—
हर प्राणी अमूल्य प्रवाल है, मणि है
ग्रस्त जीवन के जटिल शैवाल जालों में
मूल्य को अपने भुलाये कीट-सा, कृमि-सा |

रेत की इन लहरियों को धार के आवेग भाते हैं |
चूमने को चाँद इनमें भी अनेकों ज्वार आते हैं |
ज्योति के लघु फेन-कण से दीप्त
शत-शत किरण-केतन झिलमिलाते हैं |

नाव का पदचिह्न कोई भी न रक्षित रख सकीं
नीर की कोमल हिलोरें आज तक |
किन्तु यह पदचिह्न लेती बाँध प्राणों से
सँजो रखती हृदयतल में
अतुल हैं यह स्नेह-विह्वल रेत की लहरें |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 77-78

•

50—ओ समय के अर्धनारीश्वर !

ओ समय के अर्धनारीश्वर !

सतत नर्तित रहो तुम—

शर्वरी अर्धांग शर्वाणी,
दिवस अर्धांग शंकर;

व्योम-गंगा-स्रवित तिमिरावृत जटाओं बीच—
उलझी इंदुलेखा;

एक नयन समाधि-मुद्रित,
दूसरा मद-भार से श्लथ,
अग्निमय आदित्य नेत्र तृतीय;

प्रहर-प्रहर डमरू-नाद भैरव,
मुंड-माल अनाम यामों की,
क्षणों की किंकिणी;

नव मल्लिका-वल्ली अलंकृत,
रूक्ष शुष्क स्थाणु !
अनवरत नर्तन रहो करते—
युगों की हिम शिलाओं पर |

भस्म-भूषित गौर-अंग प्रभात,
धन-सिंदूर रंजित सान्ध्य-छवि सीमंत;
दोनों एक ही में निहित,
रज-कण राग-कण आश्लिष्ट;

नीलकंठ निरभ्र नीलाकाश—

ग्रीवा-भंग से आरक्त;

तम-गज-खाल—

उज्जवल चंद्रिकांशुक युक्त;

सिंह-कटि, त्रिवली-तरंगित आपगाएँ,

शुभ्र वृषभ-स्कंध सदृश हिमाद्रि;

मिटते और बनते रूप का संघात

तांडव-लास्य का सम्मिलित नर्तन;

एक पद से—

प्रबल, प्रखर, प्रचंडतर, ध्वंसाभिमुख आघात,

शम्पाओं सहित पवि-पात;

दूसरे से—

तुहिन-कण-नूपुर-क्वणित पद-क्षेप

खिल जाते रजत-जल पर कनक-जलजात;

रुद्र ! शिव ! पापहर !

ओ सौन्दर्य के कन्दर्प-दर्पापहर !

नर्तित रहो !

नर्तित रहो !

सर्प-सूत्री !

समय के ओ अर्धनारीश्वर !

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 81-82

•

51— क्षुधा-काम-स्तोत्र

इस युग के सिया-राम |

क्षुधा-काम |

'सियाराममय सब जग' जान कर

मैं भी करता प्रणाम |

ओ अनादि ! ओ अनंत !

जीवन के नग्न रूप, आदि-अंत |

गुप्त-प्रकट, सूक्ष्म-स्थूल,

ओ अगाध ! ओ अकूल !

आदि प्रकृति, आदि पुरुष,

ओ भूमा ! ओ विराट् !

पृथिवी को शीश धरे व्यालराट् |

आँख-कान-हीन दीन संस्कृति के नाद-विन्दु |

क्षत-विक्षत

विग्रह-रत

युद्धोद्धत

मानव के तिमिर-ग्रस्त चिंतन के भानु-इंदु |

यंत्र-बाहु, यंत्र-चरण, यंत्र-हृदय, यंत्र-बुद्धि,

सब कुछ यंत्रित केवल इच्छाएँ अनियंत्रित

अहो-रात्रि, सुबह-शाम |

क्षुधा काम|

जयति क्षुधे !

रक्त-मांस-मज्जा के दाह से

दीपित जिसका माथा |

भू...ख, भू...ख,

अवनी-अम्बर-वाची ध्वनियों से

विचरित जिसकी गाथा |

जठर-ज्वलित काया को घेर कर

बज उठती आँतों की किंकिणी |

षटरस का राग मुखर, ग्रास-रास-रंगिणी |

अपने ही अंडे खा जाने वाली भुजंगी,

खिंची नसों वाली चामुंडा की प्रतिमा सी,

आमाशय-वासिनि, भासिनि बहुधे !

जयति हुताशनतनये जयति क्षुधे !

जयति काम !

सृष्टी के विधायक, नायक, रतिपति,

गलित मुंड, पलित देह—

श्वान सदृश शुनि के पीछे धावित,

कुंठित अवचेतन उपचेतन के

गहरे नीले जल में

तैर रही सतरंगी वासना-मछिलयाँ जिसका केतन,

गुह्य-द्वार अंगों के उत्पीड़न,

फिर भी ज्ञापित अनंग !

चढ़ी हुई चंचरीक-प्रत्यंचा वाला धनु-कुसुम तान,

करते आखेट स्वप्न-मधुऋतु में,पंचवाण !

अश्वों सी सबल चपल इंद्रियाँ

खींचतीं तुम्हारा रथ |

ओ मनोज ! ओ मन्मथ !

सुकृत-पुरुष, विकृति-धाम,

जयति काम !

अमित रूप अमित नाम |
इस युग के सियाराम |
क्षुधा-काम |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 83-84

•

52—वाणी-वंदना

जिसका अपनापा है
मानव के चेतन विवेकपूर्ण बोध से |
जिसका बहनापा है
जीते हुए स्नेह और हारे हुए क्रोध से |
उस वाणी के आगे—
सच मानो
मेरा विश्वास सहज अर्पित है |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 85

•

53—शब्द—दंश

'शब्द तो है ब्रह्म'
श्रुति ने कहा, कह कर हो गयी चुप
'शब्द है आनंद': 'वह संवेदना है';
गुन लिया संगीत ने : साहित्य ने माना
'शब्द है आतंक'
अणु ने हो अधोमुख
वाष्पमय आकाश में विस्फोट बन

जब किया उद्‌घोषित
प्रलय के वज्र स्वर में—
ब्रह्म की सत्ता अनास्था में तिरोहित हो गयी
आनन्द का स्वर डगमगाया
हो उठीं विक्षिप्त-सी संवेदनाएँ

विश्व संस्कृति का समावृत खोखलापन
'शब्द है फुंकार'
कह कर डस गया
आतंक-अभिशापित मनुज को |

गारुड़ी ! ओ गारुड़ी !!
तुम हृदय तल के क्षीर सागर में अभी तक सो रहे हो !

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 89

•

54—अहं का विस्फोट

बड़ा अहंकार हुआ,
वज्रोपम तीव्र किरण-शल्य को प्रविष्ट किया—
अणु के अलक्ष्य सौर-मंडल के सीमित अवकाश में |
पाया क्या—
—धरती को चिथड़े-सा फाड़ कर ?
केवल विस्फोट अहं का अपने;
कर डाले अपनी ही प्रतिमा के खंड खंड |
रच कर दिखाते नगण्य एक अणु ही तब जानता |
विध्वंसक नहीं हो, रचयिता हो मानता |

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 90

•

55—एक क्षण को मान लो

एक क्षण को मान लो
संभावना ही युद्ध की टल जाय
किन्तु अब तक हुए जो विस्फोट
केवल उन्हीं के अभिशाप से—
बहे कोई लहर ऐसी
स्पर्श से जिसके ठिठुर
हर स्याह चिह्न सफ़ेद पड़ जाय |
धर्म, दर्शन, नीति औ' विज्ञान के हर ग्रन्थ का
जो पृष्ठ भी खोले कहीं कोई
वही कोरा दिखायी दे
वर्णमाला का धरा से खोज ही मिट जाय |
दूरवीक्षण यंत्र से भी देखने पर
पुतलियों के अतल तम में
आँख के तारे न दीखें |
मान ही लो
एक क्षण को अगर यह हो जाय
तो.....?

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 91

•

56—वैज्ञानिक से

माना तुम ज्ञाता हो वनस्पति-विज्ञान के
अपने बुद्धिकौशल से जो चाहो कर डालो
क्षमता तुम्हारी और ज्ञान-कोष—

अक्षय तूणीर हैं |
चिंतन के वाणों में उगने की शक्ति है;
चाहा वट वृक्ष एक गमले में पूरा उगा दिया |
किन्तु इस चमत्कृति से पाया क्या ?
इसके किसी पत्ते पर, प्रलयोत्तर बेला में,
मुँह में अँगूठा दिये देखा मुकुंद को ?
मिला सत्य ?
सौन्दर्य ?
कुछ भी ? कहीं ?
केवल अहम्मन्यता, विवेकहीन |

महाकाय, कल्पप्राण, अयुतमूल, जटिलदह, छायामय—
ऐसे महा वृक्ष को
बौने क्षुद्र सीमित संकल्प से
अतल मौन बसुध से छिन्न किया |

परखोगे अपनी सामर्थ्य को उसी दिन
जब करके कपाल-क्रिया गमले की
फूट-फूट पीली छतनार जड़ें
धरती के दूध-भरे वक्ष पर
गहरे, निर्बाध फैल जायेंगी |
होकर बलि तुमने बनाया जिसे बामन
वह क्षण-भर में बनेगा विराट् !
लाल-लाल शिशु की हथेलियों-सी कोंपलें—
छा लेंगी अंतरिक्ष
नील आतपत्री पत्र-काया लहरायेगी
निश्चय तुम्हारे क्षुद्र सीमित संकल्प पर |

•

57—युद्ध और बुद्ध

भुजा उठा, मुट्ठी कस, नेता ने कहा—
अरे मानवों !.....
अणु बम विस्फोट से—
कच्चे अंडे जैसी पृथ्वी यदि फूट गयी
क्या होगा हम सब का ?
चाहते नहीं हो यदि संस्कृति का सर्वनाश
युद्ध को—
तिलांजलि दो, श्रद्धांजलि—
बुद्ध को |
धर्म-चक्र के आगे नमन करो,
हिंसा को त्याग दो अहिंसा का वरण करो,
पूजो त्रिरत्न को !

धरती की आँखों में—
विक्रमशिला की, नालंदा की
छायाएँ नाच गयीं |
चैत्यों, विहारों, संघारामों, स्तूपों की
आकृतियाँ मन के भीतर गहरे साँच गईं |
कानों को दहकती शलाका-सी बेध उठीं,
थेर और थेरी गाथाओं के घुटते तारुण्य की
मर्मव्यथा;
जीवन के सामूहिक निषेध की
करुण कथा |
हीनयान, महायान, मन्त्र, तन्त्र, वज्रयान

पूजा अभिचारों से झाँक रही वासना |
फिर भी सब बुद्ध-वचन,
फिर भी सब बुद्ध की उपासना |
एक प्रश्न—
सीखा क्या आख़िर इतिहास से ?
हो पाये बंद युद्ध ?
हो पाये मनुज बुद्ध ?
अंतरिक्ष में आभामंडल से आलोकित
उदित हुई एक मूर्ति—
बोधि-वृक्ष की पल्लव-छाया से आच्छादित,
अभिमंत्रित—
गंगाजल जैसी पवन वाणी
गूँज उठी—

'बुद्ध हूँ.....
अपने अनुभव से प्रज्ञा मैंने पायी थी
अपने युग में मैंने भोग और योग की
अतिवादी दोनों धाराओं के बीच
मध्यमार्ग—मज्झिम निकाय—एक खोजा था |
यदि मैं होता जीवित
ढाई सहस्त्र बाद आज
खोजता पुनः मध्यम मार्ग ही
लेकिन इस बार बीच—
युद्ध और बुद्ध के |'

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 94-95

•

58—एक समीकरण

जो भारी चाकू से क्रीड़ा-आह्लाद में
अनजाने—
अपने ही हाथों को काट ले
बालक है— जियेगा अभी बरसों |

अपने-अणु-अस्त्रों के स्पर्धा-उन्माद में
अनचाहे—
जो मन को, जीवन को, लाशों से पाट ले
वह मानव भी तो निश्चय शिशु है
जियेगा अभी जुग-जुग |

•